अध्याय–8

अथ जुहोत्यादिगणः

हु दानादनयोः

यह धातु अजन्त एकाच् है। और सेट् कारिका में इसका पाठ नहीं अतः यह अनिट है।

हु ([1]देना और खाना)—जुहोत्यादिगण में 'हु' धातु प्रथम है। अतः उसके ही रूप सब से पहले सिद्ध किये जाते हैं।

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः 2.4.75

व्याख्याः शयः श्लुः स्यात् जुहोत्यादिगण की धातुओं से परे शप् का श्लु (लोप) हो।

'श्लु' का अर्थ भी लोप ही होता हैं परन्तु भिन्न कार्य करने के लिए पथक् शब्द कहा गया है। 'श्लु' का फल अग्रिम सूत्र से द्वित्व होना है।

'हु' धातु से लट् के स्थान में तिप् होने पर 'कर्तरि शप्' से शप् आया। उसका प्रकृत सूत्र से श्लु (लोप) हो गया। तब 'हु+ति' यह दशा हुई।

श्लौ 6.1.10

धातोर्द्वे स्तः। जुहोति, जुहुतः।

व्याख्याः श्लु परे होने पर अर्थात् जहाँ शप् को श्लु हुआ है, वहाँ धातु को द्वित्व हो जुहोति—यहाँ श्लु हुआ है, अतः द्वित्व होता हैं तब 'हु हु ति' इस दशा में पूर्वखण्ड अभ्यास को 'कुहोश्चुः' से चवर्ग 'झ' और 'अभ्यासे चर्च' से जश् जकार तथा उत्तरखण्ड में सार्वधाातुक गुण हो 'जुहोति' रूप सिद्ध हुआ।

जुहुतः—तम् के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण गुण नहीं होता। अतः 'जुहुतः' रूप बनता है।

अत-अभ्यस्तात् 7.1.4

झस्यात् स्यात्। 'हुश्नुवोः' इति यण-जुह्वति।

व्याख्याः अभ्यस्त से परे 'झ' को 'अत्' आदेश हो।

'झोन्तः' से प्राप्त 'अन्त्' आदेश का यह बाधक है।

'उभे अभ्यस्तम्' से जुहोत्यादिगण की धातुयें अभ्यस्तसंज्ञक हैं, क्योंकि – 'श्लौ ६।१।१०' सूत्र से यहाँ द्वित्व होता है जो कि छठे अध्याय के इस सूत्र के द्वारा विहित होने से षाष्ठ द्वित्व है।

जुह्वति—'हु' धातु से परे 'झ' को प्रकृत सूत्र से अत् आदेश होता है। 'जुहु अति' इस दशा में उवङ् प्राप्त होता है। विशेष विहित होने से उसको बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् होकर 'जुह्वति' रूप बनता है।

शेष रूप –म० जुहोति, जुहुथः जुहुथ। उ० जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः।

भी-ही-भ-हुवां श्लुवच्च 3.1.39

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात, आमि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार, जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतुः, जुहुधि, जुहवानि। अजुहोत, अजुहुताम्।

---

१. देने का तात्पर्य यहाँ (डालना) से है। प्रक्षेप भी यहाँ साधारण नहीं, अपितु विधिपूर्वक मन्त्रपाठ करते हुए 'हवि' का अग्नि में डालना लिया जाता है। इस प्रकार 'हवन करना' या 'आहुति डालना' अर्थ इस धातु का फलित होता है।

व्याख्याः भीह्री इति– भी (डरना) ह्री (लजाना), भृ (पालन करना) और हु (हवन करना) इन धातुओं से आम् प्रत्यय हो लिट् परे होने पर विकल्प से, तथा श्लु के विषय में जो कार्य (द्वित्व) होता है वह भी हो।

यहाँ 'हु' धातु से लिट् पर होने पर आम् आयेगा और श्लुवद्भाव होने से द्वित्व होने पर अभ्यासकार्य आदि होंगे। तब 'जुहवाम्' यह दशा होगी। लिट् का 'आमः' से लोप हो जायगा। तदनन्तर लिट्परक कृ भू और अस् का अनुप्रयोग होगा। निम्नलिखित प्रकार से अनुप्रयोग के रूप बनेंगे।

प्र० जुहवाचकार, जुहवाचकतुः जुहवाचक्रुः।

म० जुहवाचकर्थ, जुहवाचक्रथुः, जुहवाचक्र।

उ० जुहवाचकार–जुहवाचकर, जुहवाचकृव, जुहवाचकृम।

इसी प्रकार जुहवाम्बभूव और जुहवामास इत्यादि रूप बनेंगे।

'आम्' के अभावपक्ष में 'हु' को द्वित्व होने पर अभ्यास कार्य आदि होकर निम्नलिखित रूप बनेंगे –

प्र० जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः।

म० जुहोथ–जुहविथ, जुहुवथुः, जुहुव।

उ० जुहाव–जुहव, जुहुविव, जुहुविम।

लुट् में–होता, होतारौ, होतारः इत्यादि रूप बनते हैं।

यहाँ धातु के अनिट् होने से इट् आगम नहीं होता। धातु के उकार को आर्धधातुक गुण हो जाता है। इसी प्रकार लृट् में–होष्यति, होष्यतिः, होष्यन्ति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

लोट् में लट् के समान शप् का श्लु और द्वित्व आदि कार्य होंगे।

जुहुधि–यह 'सिप्' का रूप है। सिप् को 'हि' होता है और उसको 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'धि' आदेश होकर रूप बनता है।

जुहवानि–उत्तम में आट् के पित् होने से 'हुश्नुवोः–' के यण् को बाधकर गुण और अवादेश होकर जुहवानि, जुहवाव, जुहवाम रूप बनते हें।

लङ् में तिप् का अजुहोत् और तस् का अजुहुताम् रूप बनता है।

अभ्यस्त से परे होने के कारण 'झि' को 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'जुस्' होता है। अपित् होने से 'झि' ङित् होता है, अतः गुण का निषेध होकर उवङ् प्राप्त होता है। उसको बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् प्राप्त है, उसका अपवाद अग्रिम सूत्र है।

जुसि च 7.3.83

इगन्ताङ्गस्य गुणोजादौ जुसि। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्।

व्याख्याः जुसीति–इगन्त अङ्ग को गुण हो अजादि जुस् परे होने पर।

लिङ् में यास् और लुङ् में सिच् के कारण जुस अजादि नहीं रहता– अतः वहाँ यण् न हो, इस के लिये यह विशेषण दिया गया है।

अजुहवुः–'अजुहु+उस्' इस दशा में उवङ् आदेश को बाधकर प्रकृत सूत्र से गुण होने पर 'अव्' आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

म० अजुहोः, अजुहुतम्, अजुहुत।

उ० अजुहवम्, अजुहुव, अजुहुम।

जुहुयात्–विधिलिङ् में जुहुयात्, जुहुयाताम, जुहयुः आदि रूप बनते हैं।

हूयात्–आशीर्लिङ् में 'अकृत्सार्वधातुकयोः–' से दीर्घ होकर हूयात् हूयारस्ताम्, हूयासुः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

अहौषीत—लुङ् में सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से उकार को वृद्धि होती है। अनिट् धातु है। अतः अहौषीत, अहोष्टाम्, अहौषुः इत्यादि रूप बनते हैं। लृङ् में अहोष्यत्, अहोष्यताम्, अहोष्यन् आदि रूप होते हैं।

(ii) भी भये बिभेति .

व्याख्याः भी (डरना) —यह धातु अनिट् है।

बिभेति—लट, तिप्, शप, श्लु,द्वित्व, अभ्यासकार्य, उत्तरखण्ड के ईकार को गुण होकर यह रूप सिद्ध हुआ।

भियोऽन्यतरस्याम् 6.4.115

इकारो वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके।बिभितः -बिभीतः, बिभ्यति। बिभ्याचकार, बिभाय। भेता। भेष्यति।बिभेतु- बिभितात्-बिभीतात्। अबिभेत्। बिभियात्-बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्।

व्याख्याः 'भी' धातु को ह्रस्व इकार अन्तादेश हो विकल्प से कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

बिभितः,बिभीतः—लट् का तस् हलादि और अपित् सार्वधातुक होने से ङिवेद्भाव के द्वारा ङित् है उसके परे रहते दीर्घ इकार को ह्रस्व विकल्प से हो कर उक्त दो रूप सिद्ध होंगे।

इसी प्रकार लट् के थस, थ, वस्, और मस्—हलादि ङित् सार्वधातुक होने से इत्व विकल्प के कारण दो दो रूप बनेंगे।

शेष रूप—

म० बिभेषि, बिभिथः—बिभीथः, बिभिथ—बिभीथ।

उ० विभेमि, बिभिवः—बिभीवः, बिभिमः—बिभीमः।

बिभयाचकार —लिट् में 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' सूत्र से आम् और श्लु के समान द्वित्वादि कार्य होकर 'बिभयाम्' ऐसी स्थिति होने पर 'कृ' आदि धातुओं का अनुप्रयोग होता है।

अनुप्रयोग के अभावपक्ष में

प० बिभाय, बिभ्यतुः, बिभ्युः।

म० बिभयिथ—बिभेथ, बिभ्यथुः, बिभ्य।

उ० बिभाय—बिभय, बिभ्यिव, बिभ्यिम।

यहाँ थल में अजन्त अनिट् होने से भारद्वाजनियम से विकल्प से और व तथा म में क्रादिनियम से इट् होता है।

भेता, भेष्यति—लुट् और लृट् के ये रूप साधारण प्रक्रिया से सिद्ध होते हैं।

लोट् में हलादि प्रत्ययों में ह्रस्व विकल्प होता है—

प्र० बिभेतु—बिभितात्—बिभीतात्, बिभिताम्—बिभीताम्, बिभ्यतु।

म० बिभिहि—बिभीहि—बिभितात्—बिभीतात्। बिभितम्—बिभीतम्, बिभित—बिभीत।

उ० बिभयानि, बिभयाव, बिभयाम।

उत्तम पुरुष में आट् हो जाने से गुण और अयादेश होते हैं। हलादि न रह जाने से ह्रस्व विकल्प नहीं होता।

लङ् में -

प्र० अबिभेत्, अबिभिताम्—अबिभीताम्, अबिभयुः।

म० अबिभेत्, अबिभितम्—अबिभीतम्, अबिभित—अबिभीत।

उ० अविभयम्, अबिभिव—अबिभीव, अबिभिम—अबिभीम।

विधिलिङ् —

प्र० बिभियात्—बिभीयात्, बिभियाताम्—बिभीयाताम्, बिभियुः—बिभीयुः।

म० बिभियाः—बिभीयाः, बिभियातम्—बिभीयातम्, बिभियात—बिभीयात।

उ० बिभियाम्—बिभीयाम्; बिभियाव—बिभीयाव, बिभियाम—बिभीयाम।

यहाँ 'यास्' के द्वारा हलादि ङित् सार्वधातुक होने से ह्रस्व विकल्प होता है।

आशीर्लिङ् में— भीयात्, भीयास्ताम्, भीयासुः इत्यादि रूप बनते हैं।

लुङ् में—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र से इगन्त अङ्ग को वृद्धि हो जाती है। तब –

प्र० अभैषीत्, अभैष्टाम्, अभैषुः।

म० अभैषीः, अभैष्टम्, अभैष्ट।

उ० अभैषम्, अभैष्व, अभैष्म।

ये रूप बनते हैं।

लृङ् में साधारण प्रक्रिया से अभेष्यत्, अभेष्यताम्—इत्यादि रूप बनते हैं।

ह्री लज्जायाम्

जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति। जिह्रयाचकार, जिह्राय। ह्रेता। ह्रेष्यति। जिह्रेतु। अजिह्रेत्। जिह्रीयात्। अह्रैषीत्। अह्रेष्यत्।

व्याख्याः ह्री (लजाना)—इस धातु के रूपों की साधन प्रक्रिया प्रायः भी के समान है।

लट् के झि में अत् आदेश होने पर संयोग पूर्व होने से 'एरनेकांचोसंयोगापूर्वस्य' से यण् नहीं होता, तब 'अचिश्नुधातुभ्रुवा' य्वोरियङुवङौ' से इयङ् आदेश होता है। लिट् में आम् विकल्प से होता है।

पॄ पालनपूरणयोः

व्याख्याः पॄ (पालन और पूर्ण करना)—दीर्घ ॠकारान्त होने से यह धातु सेट् है।

अर्ति-पिपर्त्योश्च 7.4.77

अभ्यासस्य इकारोन्तादेशः स्यात् श्लौ। पिपर्ति।

व्याख्याः ऋ और पॄ धातु के अभ्यास को इकार अन्तादेश हो श्लु के विषय में।

पिपर्ति—पॄ धातु से लट् के स्थान में तिप् के आने पर शप् का श्लु (लोप) होकर द्वित्वादि कार्य होते हैं। तब पॄ पॄ ति' इस दशा में अभ्यास के अन्त्य ऋकार के स्थान में प्रकृत सूत्र से रपर इकार आदेश होता है। रेफ का हलादिशेष लोप और अभ्यासोत्तरखण्ड के ऋकार को सार्वधातुक गुण होने पर 'पिपर्ति' रूप सिद्ध होतो है।

उद् ओष्ठ्यपूर्वस्य 7.1.102

अङ्गवयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत्, तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात्।

व्याख्याः अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य (जिसका ओष्ठ स्थान हो) वर्ण पूर्व में है जिस ॠकार के, तदन्त अङ्ग को उकार (अन्तादेश) हो।

तस् में 'पिॄ तस्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से ॠकार को रपर उकार होता है, क्योंकि यहाँ अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य वर्ण पकार ॠकार से पूर्व है। तस् के ङित् होने से गुण नहीं होता। तब 'पिपुर् तस्' यह स्थिति हुई।

हलि च 8.2.77

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि। पिपूर्तः, पिपुरति। पपार।

व्याख्याः —रेफ और वकार अन्त में है जिसके, उस धातु के उपधा इक् को दीर्घ हो हल् परे होने पर।

पिपूर्तः —पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध 'पिपुर् तस्' ऐसी स्थिति में धातु 'पिपुर्' रेफान्त है उसके उपधाभूत उकार को दीर्घ हाकर 'पिपूर्तः' रूप सिद्ध हुआ।

पिपुरति–'झि' में अत् आदेश होता है। ङिद्वत् होने से झि परे रहते गुण नहीं होता। तब 'उर्' आदेश होकर 'पिपुरति' रूप बनता है।

शेष रूप भी इसी प्रकार बनेंगे, उर् सर्वत्र होगा, दीर्घ केवल हलादियों में।

म० पिपर्षि, पिपूर्थः, पिपूर्थ।

उ० पिपर्मि, पिपूर्वः, पिपू।

पपार–लिट के णल में साधारण[1] प्रक्रिया से 'पपार' रूप बनता है।

शॄ-दॄ-प्रां ह्रस्वो वा 7.4.12

एषां किति लिटि ह्रस्वो वा स्यात्। पप्रतुः।

व्याख्याः शॄ, दॄ और पॄ धातुओं को कित् लिट् परे रहते ह्रस्व विकल्प से हो।

पप्रतुः–ह्रस्व होने पर यण् रकार 'पप्रतुः' रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार –पप्रुः, म० पप्रथुः, पप्र; पाप्रिव, पप्रिम–ये रूप भी बनते हैं। ये अपित् होने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् हैं, अतः इनमें वैकल्पिक ह्रस्व होता है। ह्रस्व होने पर यण हो जाता है। दीर्घपक्ष में अग्रिम सूत्र की प्रवत्ति होती है।

ऋच्छत्यॄताम् 7.4.11

तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोर्ॠतां च गुणो लिटि। पपरतुः, पपरुः।

व्याख्याः तुदादिगण की ऋच्छ धातु, 'ऋ' धातु और ॠदन्त धातुओं को गुण हो लिट् परे रहते।

पपरतुः–यह ॠकारान्त धातु है, इसलिये ह्रस्व के अभावपक्ष में दीर्घ ॠकार को गुण हो जायगा।

पपरुः– इसकी सिद्धि की प्रक्रिया पूर्ववत् है।

शेष रूप–

म० पपरिथ, पप्रथुः–पपरथुः, पप्र–पपर।

उ० पपार–पपर, पप्रिव–पपरिव, पप्रिम–पपरिम।

दीर्घ ॠकारान्त होने से 'ऊदॄदन्तै–' के अनुसार यह धातु सेट् (उदात्त) है। अतः थल् में भी नित्य इट् होता है।

वॄतो वा 7.2.38

वङ्वाभ्यामॄदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यात्, न तु लिटि। परीता, परिता। परीष्यति, परिष्यति। पिपर्तु। अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्।

व्याख्याः वङ्, वा और दीर्घ ॠकारान्त धातुओं से पर इट् को दीर्घ विकल्प से हो, परन्तु लिट् परे रहते न हो।

परीता, परिता–लुट् में इट् होने पर 'पर् इता' इस दशा में दीर्घ ॠकारान्त 'पॄ' धातु से पर इट् के इकारको विकल्प से दीर्घ होकर दो दो रूप बनते हैं।

परीष्यति, परिष्यति–पूर्वोक्त प्रकार से ऌट् में भी इट् को विकल्प से दीर्घ होकर दो दो रूप बनते हैं।

लोट् के रूप ये हैं–

प्र० पिपर्तु–पिपूर्तात्, पिपूर्ताम, पिपुरतु।

म० पिपूर्हि–पिपूर्तात्, पिपूर्तम, पिपूर्त।

---

१. पर इतना ध्यान रहे कि आगे आनेवाले 'ऋच्छत्यॄताम्' सूत्र से गुण पहले होता है। तब 'पपर् अ' इस दशा में 'अत उपधायाः' से उपधादीर्घ होता है। यद्यपि केवल 'अचो ञ्णिति' से वद्धि होने से भी रूप सिद्ध हो सकता है, तथापि प्राप्ति होने से 'ऋच्छत्यॄताम्' सूत्र को लगाना ही चाहिये, यही शास्त्रीय प्रक्रिया है।

उ० पिपराणि, पिपराव, पिपराम।

तात्, तम्, झि, हि, तम्, और त में ङित् होने से गुण न होकर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से 'उर्' होता है और 'हलि च' से दीर्घ भी। 'झि' में अत् होने पर हल् परे न होने के कारण दीर्घ नहीं होता। शेष में पित होने से गुण होता है। उत्तम में आट् होता है और वह पित् है।

अपिपः—लङ् के तिप् में 'अपिपर् त्' इस दशा में अपत्त तकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है। तब 'र्' को विसर्ग होकर 'अपिपः' रूप बनता है।

इसी प्रकार सिप् के अपक्त सकार के लोप होने पर भी 'अपिपः' ही रूप बनता है। मिप् को अम् होता है पर पित् होने से गुण हो जाता है तब रूप 'अपिपरम्' बनता है। शेष में ङित् होने से गुण नहीं होता, तब ऋकार को 'उर्' होता है। निम्नलिखित रूप बनते हैं—

म० अपिपः, अपिपूर्तम, अपिपूर्त।

उ० अपिपरम्, अपिपूर्व, अपिपूर्म।

विधिलिङ् में यावुट् के ङित् होने से गुण न होकर ऋकार को 'उर्' औ उकार को 'हलि च' से दीर्घ होकर निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० पिपूर्यात् पिपूर्याताम्, पिपूर्युः।

म० पिपूर्याः, पिपूर्यातम्, पिपूर्यात।

उ० पिपूर्याम्, पिषूर्याव, पिपूर्याम।

आशीर्लिङ् में भी पूर्वोक्त दोनों कार्य होकर रूप सिद्ध होते हैं। विधिलिङ् के रूपों में से अभ्यास 'पि' को हटाने ओर या के साथ सकार रख देने से आशीर्लिङ् के रूप बन जाते हैं। 'तिप्' और 'सिप्' में 'पूर्यात्' और 'पूर्याः' यही रूप बनेंगे। क्योंकि यहाँ भी 'स्कोः संयोगाद्यारन्ते च' से सकार का लोप हो जाता है। 'अम्' में 'पूर्यासम्' बनेगा।

लुङ् में 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से वद्धि होगी। तब निम्नलिखित रूप बनेंगे—

प्र० अपारीत्, अपारिष्टाम्, अपारिषुः।

म० अपारीः, अपारिष्टम्, अपारिष्ट।

उ० अपारिषम्, अपारिष्व, अपारिष्म।

यहाँ इट् को 'वृतो वा' से प्राप्त दीर्घ का अग्रिम सूत्र से निषेध होता है।

सिचि च परस्मैपदेषु 7.2.40

अत्र इटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरीष्यत्-अपरिष्यत्।

व्याख्याः परस्मैपद पर सिच् परे रहते वङ्,वा् और ॠदन्त धातु से पर इट् को दीर्घ न हो।

लुङ् में इट् को इस से दीर्घ का निषेध होता है।

अपरीष्यत्—अपरिष्यत्—लङ् में इट् को यथापूर्व विकल्प से दीर्घ होगा।

ओ-हाक् त्यागे 5

जहाति।

व्याख्या— हा (छोड़ना)—यह ओदित्[1] अनिट् धातु है।

जहातेश्च 6.4.116

इघ वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहितः।

---

१. ओकार इत् है। उसका फल 'ओदितश्च से निष्ठा के सकार को ण्कार करना है—हीनम्।

व्याख्याः ओहाक् धातु को इकार अन्तादेश विकल्प से ही हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

लट् में 'तस्' आदिक अपित् होने से ङिद्वत् हैं, अतः उनके परे रहते आकार को इकार होता है।

जहितः—लट् के तस् में 'ज हा तस्' इस दशा में प्रकृत सूत्र से आकार को इकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

ई हल्यधोः 6.4.113

श्नाभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि, न तु घोः। जहीतः।

व्याख्याः 'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक धातु के आकार का ईकार हो सार्वधातुक कित् ङ्ति हलादि प्रत्यय परे रहते, परन्तु घुसंज्ञक धातु के आकार को उक्त कार्य न हो।

जहीतः—हा धातु के लट् के तस् में इकार के अभावपक्ष में अभ्यस्त होने से प्रकृत सूत्र से आकार को ईकार होता है। यहाँ हलादि ङ्ति सार्वधातुक 'तस्' परे हैं अतः दो रूप बने—जहितः—जहीतः।

श्नाभ्यस्तयोरातः 6.4.112

अनयोरातो लोपः क्ङिति सार्वधातुके। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु-जहितात्-जहीतात्।

व्याख्याः श्ना और अभ्यस्त धातु के आकार का लोप हो कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

जहति—'झि' में 'अद् अभ्यस्तात्' सूत्र से झकार को अत् आदेश होने के अनन्तर 'जहा—अति' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से आकार का लोप हो जाता है, क्योंकि 'झि' ङित् सार्वधातुक है। अतः 'जहति' रूप बना।

हलादि प्रत्यय परे रहते पूर्व सूत्र 'ई हल्यघोः' से आकार को ईकार होता है, अतः बच रहते हैं अजादि प्रत्यय, उनके ही परे रहते आकार का लोप होगा।

म० जहासि, जहिथः—जहीथः, जहिथ—जहीथ।

उ० जहामि, जहिवः—जहीवः, जहिमः—जहीमः।

जहौ—आकारान्त होने से 'पा' आदि धातुओं के समान लिट् के रूप सिद्ध होते हैं।

प्र० जहौ, जहतुः, जहुः।

म० जहिथ—जहाथ, जहथुः, जह।

उ० जहौ, जहिव, जहिम।

हाता, हास्यति—लुट और ऌट् में रूपों की सिद्धि का प्रकार साधारण ही है।

लोट् के प्रथम के द्विवचन में —'जहिताम्—जहीताम्' और बहुवचन में जहतु रूप सिद्ध होते हैं।

आ च हौ 6.4.117

जहातेर्हौ परे आ स्यात्, चाद् इद्-ईतौ। जहाहि-जहिहि-जहीहि। अजहात्, अजहुः।

व्याख्याः 'हा' धातु के आकार को 'हि' परे रहते आकार (भी) हो।

चादिति—चकार (भी) कहने से इकार और 'ई हल्यधोः ६।४।११३' इस सूत्र से इकार 'जहातेश्च ६।४।११६'सूत्र से ईकार भी होते हैं।

वास्तव में पूर्वोक्त सूत्रों से इकार और ईकार प्राप्त था, उनके करने से आकार न रहता, अतः आकार को आकार का विधान किया गया।

इस प्रकार —जहाहि—जहिहि—जहीहि—ये तीन रूप 'हि' में बनते हैं।

तम्—जहितम्—जहीतम्, त—जहित—जहीत। मिप्—जहानि, वस्—जहाव। मस्—जहाम्। उत्तम में आट् होने पर सवर्णदीर्घ हो जायगा। आकार का लोप नहीं होगा, क्योंकि 'आट्' पित् है। यद्यपि लोप करने न करने में रूप में कुछ अन्तर नहीं पड़ता, तो भी शास्त्र की प्रक्रिया का निर्वाह करना ही होगा।

लङ्—

प्र० अजहात्, अजहिताम्—अजहीताम्, अजहुः।

म० अजहाः, अजहितम्—अजहीतम्, अजहित—अजहीत्।

उ० अजहाम्, अजहिव—अजहीव, अजहिम—अजहीम।

यहाँ मिप् में अम् आदेश करने पर सवर्णदीर्घ करना होगा, क्योंकि मिप् के पित् होने से आकार का लोप नहीं हो सकता।

लोपो यि 6.4.118

जहातेरालोपो यादौ सार्वधातुके।

जह्यात्। लिंङि-हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्।

व्याख्याः 'हा' धातु के आकार का लोप हो यकारादि सार्वधातुक परे रहते।

जह्यात्—विधिलिङ् में 'जहा यात्' इस अवस्था में यकारादि सार्वधातुक 'यात्' के परे रहने से आकार का लोप हो जाता है। इस प्रकार जह्यात्, जह्याताम् आदि रूप बनते हैं।

हेयात्—आशीर्लिङ् में 'एर्लिङि' से आकार को एकार होकर हेयात् हेयास्ताम् आदि रूप बनते हैं।

अहासीत—लुङ् में आकारान्त होने से 'यमरमनमातां सक् च' से इट् और सक् होने से निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० अहासीत, अहासिष्टाम्, अहासिषुः।

म० अहासीः, अहासिष्टम, अहासिष्ट।

उ० अहासिषम, अहासिष्व, अहासिष्म।

माङ् माने शब्दे च 6

व्याख्याः मा (नापना और शब्द करना)—यह धातु आत्मनेपदी —और अनिट् है।

भााम् इत् 7.4.76

भा्, माङ्, ओहाङ्-एषां त्रयाणामभ्यासस्य 'इत्' स्यात् श्लौ। मिमीते, मिमाते। ममे। माता। मास्यते। मिमीताम्। अमिमीत। मिमीत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत।

व्याख्याः भाामिति—भा् (पालन करना), माङ् (नापना) और ओहाङ (जाना) इन तीन धातुओं के अभ्यास को इकार अन्तादेश हो श्लु के विषय में

मिमीते—'मा मा ते' इस अवस्था में अभ्यास के आकार को प्रकृत सूत्र से इकार तथा उत्तरखण्ड के आकार को 'ई हल्यघोः' से ईकार होकर मिमीते रूप बनता है।

मिमाते—'आताम्' में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

मिमते—झि में भी आकार का लोप होने से मिम रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप निम्नलिखित हैं—

म० मिमीषे, मिमाथे, मिमीध्वे।

उ० मिमे,, मिमीवहे, मिमीमहे।

लोट्-

प्र० मिमीताम्, मिमातम्, मिमताम्।

म० मिमीष्व, मिमाथाम्, मिमीध्वम्।

उ० मिमै, मिमावहै, मिमामहै।

लङ्

प्र० अमिमीत, अमिमाताम्, अमिमत्।

म० अमिमीथाः, अमिमाथाम्, अमिमीध्वम्

उ० अमिमे, अमिमीवहि, अमिमीमहि।

विधिलिङ् –

प्र० मिमीत, मिमीयाताम्, मिमीरन्।

म० मिमीथाः, मिमीयाथाम्, मिमीध्वम्।

उ०मिमीय, मिमवहि, मिमीमहि।

उपसर्ग के योग में –निर्मिमीते–निर्माण करना है। अनुमिमीते–अनुमान करता है। उपमिमीते–तुलना करता है।

ओहाङ् गतौ 7

जिहीते, जिहाते, जिहते। जहे। हाता।हास्यते। जिहिताम्। अजिहीत। जिहात। हासीष्ट। अहास्त। अहास्यत।

व्याख्याः हा (जाना)–ओहाङ् धातु गत्यर्थक है और ङित् होने से आत्मनेपदी।

जिहीते–लट् के एकवचन में श्लु होने पर द्वित्व होता है। अभ्यास में 'भाामित्' से इकार अन्तादेश और उत्तरखण्ड में 'त' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् होने के कारण 'ई हल्यघोः' से ईकार होता है।

जिहाते–आताम् में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' सूत्र से रूप सिद्ध होता है जिहते – अदभ्यस्तात् सूत्र से 'झ' को 'अत्' आदेश होने पर आकार का पूर्ववत् लोप होने से रूप बनता है।

शेष रूप निम्नलिखित हैं–

म० जिहीषे, जिहाथे, जिहीध्वे।

उ० जिहे, जिहीवहे, जिहीमहे।

लिट्-

प्र० जहे, जहाते, जहिरे।

म० जहिषे, जहाथे, जहिध्वे।

उ० जहे, जहिवहे, जहिमहे।

से वहि और महि में क्रादि–नियम से इट् होता है।

लोट्-

प्र० जिहीताम्, जिहाताम्, जिहताम्।

म० जिहीष्व, जिहाथाम्, जिहीध्वम्।

उ० जिहै, जिहावहै, जिहामहै।

यहाँ उत्तम में आट् आगम के पित् होने से आकार का लोप नहीं होता। एकवचन में आट् के तथा धातु के आकार को सवर्णदीर्घ होकर प्रत्यय के इकार के स्थान में हुए ऐकार के साथ वद्धि 'ऐकार' हो जाता है अन्यत्र पूर्ववत् सवर्णदीर्घ।

लङ्-

प्र० अजिहीत, अजिहाताम्, अजिहत।

म० अजिहीथाः, अजिहाथाम्, अजिहीध्वम्।

उ० अजिहि, अजिहीवहि, अजिहीमहि।

विधिलिङ–

प्र० जिहीत, जिहीयाताम्, जिहीरन्।

म० जिहीथाः, जिहीयाथाम्, जिहीध्वम्।

उ० जिहीय, जिहीवहि, जिहीमहि।

लुङ्–

प्र० अहास्त, अहासाताम्, अहासत।

म० अहास्थाः, अहासाथाम्, अहाध्वम्।

उ० अहासि अहास्वहि अहास्महि।

यह धातु अनिट् है, अतः सिच् को इट् नहीं होता और दीर्घान्त होने से 'ह्रस्वाद्अङ्गात्' से 'सिच्' का लोप भी नहीं होता।

डु भृ धारणपोषणयोः 8

बिभर्ति, बिभृतः, बिभ्रति। बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते। बभ्रे।

बिभाराचकार। बभार, बभर्थ, बभृव। बिभराञ्चक्रे, भर्ता। भरिष्यति, भरिष्य।

बिभर्तु; बिभराणिः बिभृताम्। अबिभः, अबिभृताम्, अबिभः अबिभृत। बिभृयात्, बिभ्रीत।

भ्रियात्, भृषीष्ट। अभार्षीत्, अभृत। अभरिष्यत, अभरिष्यत।

व्याख्याः भृः (धारण और पालन करना)–ञित् होने से यह उभयपदी है।

लट्, लोट, लङ् औरविधिलिङ्–इन चार सार्वधातुक लकारों में जिन में शप् होता है और उसका श्लु होने से ये 'श्लु' के विषय बन जाते हैं, अभ्यास को 'भाामित्' से इकार होता है।

बिभर्ति–यह रूप लट् के प्रथम के एकवचन का है। यहाँ तिप् के पित् होने से गुण हो जाता है। शप् का श्लु, द्वित्व, अभ्याकार्य और 'भाामित्' से अभ्यास के अकार को इकार होकर रूप सिद्ध होता है।

बिभृत– तस् के अपित् होने से ङित् हो जाने के कारण गुण का निषेध होने पर रूप बनता है।

बिभ्रति–यह रूप 'झि' में बनता है। यहाँ भी ङित् होने से गुण निषेध हो जाने के कारण यण् होता है।

शेष रूप निम्नलिखित बनते हैं–

म० बिभर्षि, बिभृथः, बिभृथ।

उ० बिभर्मि, बिभृवः, बिभृमः।

आत्मनेपद के प्रत्यय अपित् होने से सभी ङिद्वत होते हैं, अतः उनमें गुण निषेध होता है।

उसके शेष रूप निम्नलिखित हैं –

प्र० बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते।

म० विभृषे, बिभ्राथे, बिभृध्वे।

उ० बिभ्रे, बिभृवहे, बिभृमहे।

लिट् में 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' से आम् और श्लुवद्भाव होने से बिभराचकार, बिभराचक्रे आदि रूप बनते हैं तथा आम् के अभाव में बभार, बभ्रे आदि। यहाँ 'कृसभवस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि' सूत्र से सर्वथा इट् का निषेध होता है। इसलिये थल् में–बभर्थ और व तथा म में –बभृव और बभृम रूप सिद्ध होते हैं। आत्मनेप्रद में भी–से, ध्वे, वहि, महि में बभृषे, बभृध्वे, बभृवहे, बभृमहे इत्यादि इट् रहित रूप बनते हैं।

लृट्में 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् होकर भरिष्यति आदि रूप होते हैं।

लोट्–

प० प्र० बिभर्तु–बिभतात्, बिभताम्, बिभ्रतु।

म० बिभहि–तात्, बिभतम्,बिभत।

उ० बिभराणि, बिभराव, बिभराम।

आ० –

प्र० बिभताम्, बिभ्राताम् बिभ्रताम्।

म० विभष्व, बिभ्राथाम, बिभध्वम्।

उ० बिभरै, बिभरावहै, बिभरामहै।

लङ्–

प० प्र० अबिभः, अबिभताम्, अबिभरुः।

म० अबिभः, अबिभतम्, अबिभत।

उ० अबिभरम् अविभव, अबिभम।

प्रथम और मध्यम के एकवचन में गुण होने पर अपक्त 'त्' और 'सु' का इल्ङ्यादि लोप हो जाता है और रेफ के विसर्ग। अभ्यस्त होने से झि को जुस और 'जुसि' से गुण होता है।

लङ्–

आ० प्र० अबिभत, अबिभ्रताम्, अबिभ्रत।

म० अबिभथाः, अबिभ्राथाम्, अबिभध्वम्।

उ० अबिभ्रि, अबिभवहि, अबिभमहि।

विधिलिङ् परस्मैपद में बिभयात्, बिभयाताम्, बिभयुः आदि रूप बनते हैं, सार्वधातुक होने से यहाँ 'रिङ् श–यग्–लिङ्क्षु' से रिङ् आदेश नहीं होता। आत्मनेपद में 'बिभ्रीत, बिभ्रीयाताम्, बिभ्रीरन् आदि रूप बनते हैं।

आशीर्लिङ् में (परस्मैपद) आर्धधातुक होने से रिङ् होकर भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भ्रियासुः, तथा आत्मनेपद में 'उश्च' सूत्र से सीयुट् के कित् होने के कारण गुण निषेध हो जाने से भषीष्ट भषीयास्ताम्, भषीरन् आदि रूप होते हैं।

लुङ् परस्मैपद में 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से वद्धि होकर –

प्र० अभार्षीत, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः।

म० अभार्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट।

उ० अभार्षम्, अभार्ष्व, अभार्ष्म।

ये रूप बनते हैं। यहाँ धातु के अनिट् होने से सिच् को इट् नहीं होता। आत्मनेपद में झलादि (त, थास्, ध्वम्) प्रत्ययों में 'ह्रस्वाद्–अङ्गात्' से सिच् का लोप होता है–

प्र० अभत, अभषाताम्, अभषत।

म० अभथाः, अभषाथाम्, अभध्वम्।

उ० अभषि, अभष्वहि, अभष्महि।

ये रूप सिद्ध होते हैं।

डु दाा दाने 9

ददाति, दत्तः, ददति; दत्ते, ददाते, ददते। ददौ, ददे। दातासि, दातासे। दास्यति, दास्यते। ददातु।

व्याख्याः दा (देना)–ाित् होने से यह भी उभयपदी है।

ददाति–लट् (प०) के प्रथम के एकवचन में श्लु, द्वित्व और अभ्यास को ह्रस्व होकर रूप सिद्ध होता है।

दत्तः–तस् में ङिद्वत होने से अभ्यासोत्तरखण्ड के आकार का 'श्नाभ्यस्तसयोरातः' से लोप होने पर अवशिष्ट दकार को चर् तकार होकर रूप बनता है।

ददति–'झि' में अत् आदेश होने पर आकार का श्नाभ्यस्तयोः– ६।४।१ २।।' इत्यादि से लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप निम्नलिखित बनते हैं–

म० ददासि, दत्थः, दत्थ।
उ० ददामि, दद्वः, दद्मः।

आ०–

प्र० दत्ते, ददाते, ददते।
म० दत्से, ददाथे, दद्ध्वे।
उ० ददे, दद्वहे, दद्महे।

ददौ–लिट् (प) में आकारान्त होने से 'आत औ णलः' से णल् को औकार होकर 'पपौ' आदि के समान रूप बनता है।

अन्य रूप –

प्र० ददतुः, ददुः।

म० ददिथ–ददाथ, ददथुः दद।

उ० ददौ, ददिव, ददिम।

ये बनते हैं।

आत्मनेपद –

प्र० ददे, ददाते, ददिरे।

म० ददिषे, ददाथे, ददिध्वे।

उ० ददे, ददिवहे, ददिमहे।

इट् क्रादिनियम से होता है। थल् में भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् होता है। 'आता लोप इटि च ६।४।६४।।' इससे आकार का लोप होता है।

लोट् में –ददातु–दत्तात्, दत्ताम्, ददतु ये प्रथम पुरुष में बनते हैं।

दा-घा घु-अदाप् 1.1.20

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञा स्युः, दाप्-दैपौ विना। ध्वसोः-' इत्येत्वम्-देहि। दत्तम्। अददात्, अदत्त। दद्यात्, ददीत। देयात्, दासीष्ट। अदात्, अदाताम् अदुः।

व्याख्याः 'दा'– रूप और 'धा' रूप धातुओं की 'घु' संज्ञा हो दाप् और दैप् को छोड़ कर।

'दा' रूप धातु चार हैं–१ डु दा्‌ धारन्य दो है – १. डुधाञ् दोन जुहोव्यादि, २. दाण दाने भ्वादि, ३. दो अवखण्ड ने दिवादि, ४. देङ् रक्षणे। भ्वादि धारणपोषणयोः जुहोत्यादि, २ घेट् पाने भ्वादि। घा्‌ स्वाभाविक और घट् लाक्षणिक धारूप है।

'घु' संज्ञा के मुख्य फल ये हैं–

१–कित् प्रत्ययों में 'घु–मा–स्था–गा–पा–जहाति–सां हलि' सूत्र से धातु के आकार को 'ईकार' आदेश।

२–लोट् के म० पु० ए० व० हि में 'ध्वसो रेत् हौ अभ्यास लोपश्च' सूत्र से धातु के आकार को 'एकार' आदेश और अभ्यास का लोप।

३– कित् लिङ् में 'एर्लिङि' सूत्र से धातु के आकार को 'एकार' आदेश।

४–लुङ् परस्मैपद में 'गाति–स्था–घु–पा–भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' सूत्र से सिच् का लोप।

देहि–प्रकृत 'दा' धातु के घुसंज्ञक होने से लोट् के मध्यम के एकवचन में 'द दा हि' इस अवस्था में 'ध्वसोदद्वावभ्यासलोपश्च' से आकार को एकार और अभ्यास का लोप होकर 'देहि' रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप–

म० देहि, दत्तम, दत्त।

उ० ददानि, ददाव, ददाम।

आ०–

प्र० दत्ताम्, ददाताम, ददताम्।

म० दत्स्व, ददाथाम, दद्ध्वम्।

उ० ददै, ददावहै, ददामहै।

ङिद्वद्भाव होने से आत्मनेपद के रूपों में 'श्नाभ्यस्योरातः' से आकार का लोप होता है।

लङ् –

प०प्र० अददात्, अदत्ताम, अददुः।

म० अददाः, अदत्तम, अदत्त।

उ० अददम, अदद्व, अदद्म।

'अददुः' में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से झि को जुस् होता है।

आ०–

प्र० अदत्त, अददाताम्, अददत।

म० अदत्थः, अददाथाम्, अदद्ध्वम्।

उ० अददि, अदद्वहि, अदद्महि।

वि०लि०–

प० प्र० दद्यात, दद्याताम्, दद्युः।

म० दद्याः, दद्यातम्, दद्याम।

उ० दद्याम, दद्याव, दद्याम।

आ० –

प्र० देयात्, देयास्ताम्, देयासुः।

म० देयाः, देयास्तम्, देयास्त।

उ० देयासम्, देयास्व, देयास्म।

यहाँ परस्मैपद में ङित् यासुट् परे होने से 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होता है और आशीर्लिङ् में 'एर्लिङि' से आकार को एकार आदेश।

वि० लि०–

आ० प्र० ददीत, ददीयाताम्, ददीरन्।

म० ददीथाः, ददीयाथाम्, ददीध्वम्।

उ० ददीय, ददीवहि ददीमहि।

आ० लि०–

प्र० दासीष्ट, दासीयास्ताम्। दासीरन्।

म० दासीष्ठाः, दासीयास्थाम्, दासीध्वम्।

उ० दासीय, दासीवहि, दासीमहि।

लुङ् में गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' से सिच् का लोप हो जाता है। इस प्रकार से एकवचन में –अदात्, द्विवचन में –अदाताम्, बहुवचन में –अदुः रूप बनते हैं। बहुवचन में सिच् का लोप होने पर 'आतः' सूत्र से झि को जुस् आदेश और आकार का 'उस्यपदान्तात्' से पररूप होता है। शेष रूप–

म० अदाः, अदातम्, अदात।

उ० अदाम, अदाव, अदाम

होते हैं।

स्था-ध्वोरिच्च 1.2.17

अनयोः 'इद्' अन्तादेशः, सिच कित् स्याद् आत्मनेपदे। अदित। अदास्यत्, अदास्यत।

व्याख्याः स्था और घुसंज्ञक धातुओं को इकार अन्तादेश हो और सिच् कित् हो आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते।

अदित्–घुसंज्ञक दा धातु के लुङ में 'अदा स् त' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से आकार को इकार आदेश और सिच् को कित्त्व होने पर 'ह्रस्वादअङ्गात्' सूत्र से झल् तकार परे होने के कारण सिच् का लोप होकर 'अदित' रूप होता है। यहाँ 'त' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वद् होने के कारण गुण निषेध होता है।

सिच् के कित् करने का फल द्विवचन में होता है। क्योंकि आताम् में झलादि न होने से सिच् का लोप नहीं होता, उसके कित् होने से इकार को गुणनिषेध हो जाता है।

सम्पूर्ण रूप–

प्र० अदित, अदिषाताम्, अदिषत।

म" अदिथाः–अदिषाथाम्, अदिध्वम।

उ० अदिषि, अदिष्वहि, अदिष्महि।

'दा' धातु के साथ 'आङ्' उपसर्ग का योग होने पर 'लेना' अर्थ होता है और तब 'आङो दोनास्यविहरणे' सूत्र से आत्मनेपद ही आता है, परस्मैपद नहीं। विद्यामादत्ते–विद्या ग्रहण करता है।

'प्र नि' इन दो उपसर्गों के योग होने पर 'नि' के नकार को 'नेर्गदनदपदपतघु–' इत्यादि सूत्र से घुसंज्ञक दा के परे होने से णत्व हो जाता है। प्राणिददाति आदि रूप बनते हैं।

डु धाा् धारणपोषणयोः 10

दधाति।

व्याख्याः (धारण और पोषण करना)– यह धातु अनिट् है।

दधाति–इसके अभ्यास के धकार को 'अभ्यासे चर्च' से जश् दकार हो जाता हे। अतः लट् के प्रथम के एकवचन तिप् में उक्त रूप बनता है।

तस् में श्लु, द्वित्व और अभ्यास को जश् होने पर 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होकर 'दध् तस्' यह स्थिति बनती है।

दघस्तथोश्च 8.2.38

दिरुक्तस्य झषन्तस्य धााो वशो भष् स्यात्, तथोः परयोः स्ध्वोश्च परतः। धत्तः दधति, दधासि, धत्थः, धत्थ। धत्ते, दधाते, दधते, धत्से घद्ध्वे।

'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च'-धेहि। अदधात्, अधत्त। दध्यात्, दधीत। धेयात्, धासीष्ट। अधात्, अधित। अधास्यत्, अधास्यत।

व्याख्याः कृतद्वित्व (जिसको द्वित्व किया गया हो) झषन्त धा् धातु के बश् को भष् हो तकार, थकार, सकार और ध्व परे होने पर।

'द्वित्व होने पर' कहने से यह सूत्र लट् लोट्, लङ् और विधिलिङ् में ही प्रवत्त होगा, क्योंकि इन्हीं लकारों में द्वित्व होता है। 'झषन्त' कहने से इस सूत्र की प्रवत्ति उन्हीं स्थलों पर होती है जहाँ श्नाभ्यस्तयो रातः से आकार का लोप होता है क्योंकि लोप होने पर धकार बचता है, अतः धातु झषन्त हो जाता है। आकार का लोप होने पर भी चार स्थलों में तकार, धकार, सकार और ध्व परे रहते ही प्रवत्ति होती है। विधिलिङ् में आकार का लोप होने पर भी प्रवत्ति नहीं होती, क्योंकि यासुट् का व्यवधान होने से तकार आदि कोई भी परे नहीं मिलते। अभ्यास में 'अभ्यासे चर्च' से धकार को जो दकार होता है, उसको इस सूत्र से पुनः भष्भाव के द्वारा धकार हो जाता है।

धत्तः–पूर्वोक्त 'दध् तस्' इस स्थिति में दकार को इस सूत्र से भष्भाव धकार होता है। तब उत्तर धकार को चर् तकार होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी इस सूत्र की प्रवत्ति का प्रकार समझना चाहिये।

इस भष्भाव के अतिरिक्त अन्य रूपों की सिद्धि का प्रकार 'दा' धातु के बिल्कुल समान ही हैं इसलिये सारे रूप यहाँ नहीं लिखे जाते, कुछ रूप मूल में दे ही दिये गये हैं।

उपसर्ग के योग में–

सन्दधाति = मिलता है।	आदधाति = रखता है।
अवदधाति = ध्यान देता है।	विदधाति = करता है।
परिदधाति = (कपड़े) पहनता है।	अभिदधाति= करता है।
निदधाति = रखता है।	अपिदधाति[1]= ढकता है।
समादधाति = समाधान करता है।	अनुसन्दधाति = खोज करता है।
प्रणिदधाति = मन लगाता है।	श्रद्दधाति = विश्वास करता है।

'श्रद्' उपसर्ग नहीं है किन्तु इनके योग में भी अर्थ बदल जाता है इसलिये इसका योग भी दिखा दिया है।

इनके आत्मनेपद में भी यही अर्थ रहता है।

णिजिर् शौच-पोषणयोः 11

व्याख्याः (शुद्ध करना अर्थात् धोना तथा पोषण करना)–इसका 'इर्' इत्संज्ञक है।

(वा) इर इत्संज्ञा वाच्या।

व्याख्याः (वा) इर इति–'इर्' की इत्संज्ञा हो।

इस वार्तिक से 'णिजिर्' के 'इर्' की इत्संज्ञा होती है और तब लोप हो जाता है। इस प्रकार 'णिज्' शेष रहता है। 'इर्' की इतसंज्ञा का फल 'इरितो वा' सूत्र से च्लि को अङ् विकल्प से होता है।

णकार को 'णो नः' से नकार हो जाता है।

लट् के तिप् में श्लु और द्वित्व होने पर अभ्यासोत्तखण्ड से इकार को सार्वधातुक गुण होकर 'नि नेज् ति' यह स्थिति बनती है।

णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ 7.4.75

णिज्, विज्, विषामभ्यासस्य गुणः स्यात् श्लौ। नेनेक्ति, नेनिक्तः, नेनिजति। निनेज, निनिजे। नेक्त। नेक्ष्यति, नेक्ष्यते। नेनेक्तुः नेनिग्धि।

---

१. यहाँ 'अपि' के अकार का भागुरि आचार्य के मत से लोप होकर पिदधाति भी बनता है।

व्याख्याः णिज्, विज[1] और विष धातुओं के अभ्यास को गुण हो श्लु[2] के विषय में।

नेनेक्ति– प्रकृत णिज् धातु में पूर्वोक्त 'निनेज् ति' इस स्थिति में अभ्यास को गुण होता है। तदनन्तर जकार को 'चोः कुः' से कुत्व गकार और उसको चर ककार होकर रूप सिद्ध होता है।

नेनेक्तिः–यहाँ 'अद् अभ्यसात्' सूत्र से झि को अत् आदेश होता हैं

नेनेक्षि–सिप् में जकार को ककार होने पर अग्रिमसकार को मूर्धन्य और क ष संयोग से 'क्ष' होकर रूप बनता है। प्रथम इकार को अभ्यास गुण और द्वितीय को सार्वधातुक गुण होता है।

थस्–नेनिक्थः। थ–नेनिक्थ। मिप्–नेनेज्मि। वस्–नेनिज्वः। मम्–नेनिज्मः।

आ०–

प्र० नेनिक्त, नेनिजाते, नेनिजते।

म० नेनिक्षे, नेनिजाथे, नेनिग्ध्वे।

उ० नेनिजे, नेनिज्वहे, नेनिज्महे।

लिट् प०–

प्र० निनेज, निनिजतुः, निनिजुः।

म० निनेजिथ, निनिजथुः, निनिज।

उ० निनेज–निनिज, निनिजिव, निनिजिम।

आ०–

प्र० निनिजे, निनिजाते, निनिजिरे।

म० निनिजिषे, निनिजाथे, निनिज्ध्वे।

उ० निनिजे, निनिजिवहे, निनिजिमहे।

निज् धातु अनिट् है। लिट् में क्राादिनियम से इट् होता है।

लोट् के प्रथम में–प्र० नेनेक्तु–नेनिक्तात्, नेनिक्ताम्, नेनिजतु। –हि में नेनिग्धि। यहाँ झलन्त होने से 'हि' को 'धि' होता है। थस्–नेनिक्तम् थ० नेनिक्त।

नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके 7.3 87

लघूपधगुणो न स्यात्। नेनिजानि। नेनिक्ताम्। अनेनेक् अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः; अनेनिजम्; अनेनिक्त। नेनिज्यात्, निज्यात्, नेनिजीत, निक्षीष्ट।

व्याख्याः अजादि पित् सार्वधातुक परे होने पर अभ्यस्त धातु को लघूपध गुण न हो।

लोट् के उत्तम में आट् के पित् होने से लधूपध गुण प्राप्त है, उसका इस सूत्र से निषेध होता है। अतः नेनिजानि, नेनिजाव, नेनिजाम–ऐसे रूप बनते हैं।

आत्मनेपद में –

प्र० नेनिक्ताम्, नेनिजाताम्, नेनिजताम्।

म० नेनिक्थाः, नेनिजाथाम्, नेनिग्ध्वम्।

उ० नेनिजै, नेनिजावहै, नेनिजामहै।

---

१. विजिर् पथगीावे (अलग होना), विध्लृ व्याप्तौ (व्याप्त होना) ये धातुयें जुहोत्यादिगण की ही हैं, परन्तु लघुकौमुदी में नहीं आती। 'वेवेक्ति, वेविक्तः वेविजतिः वेवेष्टि, वेविष्टः, बेविषति' आदि रूप बनते हैं।

२. इस अभ्यासगुण का श्लु के विषय में विधान किया गया है, अतः इसके होने में प्रत्यय का ङित् आदि होना बाधक नहीं, क्योंकि यह प्रत्ययनिमित्तक नहीं। प्रत्ययनिमित्तक गुण का ही निषेध उसके ङि आदि से होता है।

लङ् प०—

प्र० अनेनेक, अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः।

म० अनेनेक्, अनेनिक्तम्, अनेनिक्त।

उ० अनेनिजम्, अनेनिज्व, अनेनिज्म।

अनेनिजम् में अजादि पित् सार्वधातुक अम् परे होने से लधूपध गुण का 'नभ्यस्तस्य—' से निषेध हो जाता है।

आ०—

प्र० अनेनिक्त, अनेनिजाताम्, अनेनिजत।

म० अनेनिक्थाः, अनेनिजाथाम्, अनेनिग्ध्वम्।

उ० अनेनिजि अनेनिज्वहि, अनेनिज्महि।

विधिलिङ् प०—

प्र० नेनिज्यात्, नेनिज्याताम्, नेनिज्युः।

म० नेनिज्याः, नेनिज्यातम्, नेनिज्यात।

उ० नेनिज्याम्, नेनिज्याव, नेनिज्याम्

आ०—

प्र० नेनिजीत, नेनिजीयाताम्, नेनिजीरन्।

म० नेनिजीथाः, नेनिजीयाथाम्, नेनिजीध्वम्।

उक्त नेनिजीय, नेनिजीवहि, नेनिजीमहि।

यहाँ सीयुट् के सकार का लोप होने पर अजादि पित् सार्वधातुक मिल जाने से लधूपध गुण का निषेध हो जाता है।

आशीर्लिङ् प०—

प्र० निज्यात्, निज्यास्ताम्, निज्यासुः।

म० निज्याः, निज्यास्तम्, निज्यास्त।

उ० निज्यासम्, निज्यास्व, निज्यास्म।

अ०—

प्र० निक्षीष्ट, निक्षीयास्ताम्, निक्षीरन्।

म० निक्षीष्ठाः, निक्षीयास्थाम, निक्षीध्वम्।

उ० निक्षीय, निक्षीवहि, निक्षीमहि।

आत्मनेपद में 'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु' सूत्र से सीयुट् कित् होकर गुण निषेध करता है।

इरितो वा 3.1.57

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु। अनिजत्-अनैक्षीत्, अनिक्त। अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत्।

व्याख्याः इरित् धातु से पर च्लि को अङ् आदेश विकल्प से हो परस्मैपद परे रहते।

अङ् के ङित् होने से गुण वद्धि नहीं होती। पक्ष में हलन्तलक्षण वद्धि होती है।

अङ्पक्ष—

प्र० अनिजत्, अनिजताम्, अनिजम्।

म० अनिजः, अनिजतम्, अनिजत।

उ० अनिजम, अनिजाव, अनिजाम।

सिच्पक्ष–

प्र० अनैक्षीत, अनैक्ताम, अनैक्षुः

म० अनैक्षीः, अनैक्तम्, अनेक्त।

उ० अनैक्षम्, अनैक्ष्व, अनैक्ष्म।

यहाँ झलादि में 'झलो झलि' से सिच् के सकार का लोप होता है। शेष स्थलों में जकारस्थानिक चर् ककार से पर सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'क्ष' बन जाता है। इसी प्रकार आत्मनेपद में भी होता है।

आ० –

प्र० अनिक्त, अनिक्षाताम्, अनिक्षत।

म० अनिक्थाः, अनिक्षाथाम्, अनिग्ध्वम्।

उ० अनिक्षि, अनिक्ष्वहि, अनिक्ष्महि।

(जुहोत्यादिगण समाप्त)